

आत्म और आत्मचरित

राजकुमार

*अंध तमः प्रविशति येऽविद्यामुपासते । ततो भूयं इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
विद्यां चाविद्या च यस्तद् वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥*

- ईशोपनिषद्

(जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अंधकार में जाते हैं। जो विद्या में रत हैं वे भी अंधकार में जाते हैं। जो विद्या अविद्या की साथ साथ उपासना करते हैं वे अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं और विद्या से अमरत्व प्राप्त करते हैं।)

यह मान लिया गया था कि भारतीय सभ्यता में जाति और धर्म की नियामक भूमिका थी। धर्म और जाति पर आधारित सामूहिक अस्मिताएं यहां इतनी सशक्त थीं कि वैयक्तिक सत्ता और वैयक्तिकता के बोध को सम्यक् रूप से विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला। संक्षेप में, यह ऐसी सभ्यता थी जहां समाज तो समादृत था और व्यक्ति तिरस्कृत। वैयक्तिकता के विकास के लिए अवकाश नहीं था तो आत्मकथा का कैसे विकास होता? वैयक्तिकता का विकास तो सिर्फ पश्चिम में हुआ। वैयक्तिकता के विकास की सम्भावना पश्चिम में पहले से मौजूद थी। सेण्ट ऑगस्टाइन के 'कन्फेशन' में इसके निशान साफ साफ दिखते हैं, जिसकी तार्किक परिणति आधुनिकता के विकास में होती है। पुनर्जागरणकालीन मानववाद, ज्ञानोदयी तार्किकता, स्वच्छंदतावादी वैयक्तिकता ने आत्मचेतस व्यक्ति के क्रियाकलापों और निजी उपलब्धियों को महत्व दिया। यही कारण है कि पश्चिम में आधुनिकता का विकास हुआ किन्तु गैर पश्चिमी सभ्यताएं आधुनिकता का विकास नहीं कर पायीं, क्योंकि इन सभ्यताओं में वैयक्तिकता के विकास के लिए अवकाश नहीं था। निष्कर्ष यह रहा कि वैयक्तिकता का विकसित बोध पश्चिम की विलक्षणता है और गैर पश्चिमी सभ्यताओं में वैयक्तिकता के विकास का अभाव उनकी अक्षमता का सूचक है। इस समूचे विवेचन में इस तथ्य को नजरअंदाज कर दिया गया कि वैयक्तिकता का विकास बहुत कुछ ऐतिहासिक सांस्कृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। ये परिस्थितियां सभी सभ्यताओं में एक जैसी नहीं होतीं, इसीलिए इन सभ्यताओं में वैयक्तिकता का विकास भी एक जैसा नहीं होता। उल्लेखनीय है कि आधुनिकता की मंजिल तक पहुंचने का जो रास्ता पश्चिम ने अपनाया, जरूरी नहीं कि दूसरी सभ्यताएं भी उसी रास्ते पर चल कर आधुनिकता की मंजिल तक पहुंचें। इसलिए पश्चिम के नक्शेकदम पर भारत या अन्य सभ्यताओं में वैयक्तिकता का विकास खोजना, 'यूरोसेन्ट्रिक' दृष्टिकोण का सूचक है। असल में सवाल ये नहीं है कि समाज व्यक्ति से कैसे तालमेल बैठाता है बल्कि सवाल ये है कि व्यक्ति समाज से कैसे तालमेल बैठाता है। तालमेल बिठाने में समाज को बदलने का भाव भी अंतर्निहित है। जाहिर है कि अलग अलग सभ्यताओं में व्यक्ति ने समाज से तालमेल बिठाने के अलग अलग तरीके विकसित किये थे। पलट कर यह भी कह सकते हैं कि वैयक्तिकता के विकास का निकष

सभ्यता सापेक्ष होता है। और यह निकष भी सभ्यता के विकास के साथ बदलता है। निकष बदलता है तो वैयक्तिकता की अवधारणा भी बदलती है। भारत में वैयक्तिकता की अवधारणा हमेशा एक जैसी नहीं रही, उसमें बदलाव होते रहे हैं। इसलिए यह मानना कि भारतीय सभ्यता में व्यक्ति की भूमिका समाज के इशारे पर नाचने वाली कठपुतली की तरह थी, सरासर गलत है। व्यक्ति की सत्ता में होने वाली तब्दीली को हम सत्रहवीं शताब्दी की 1641 ई. में बनारसीदास द्वारा लिखी गयी आत्मकथा 'अर्द्धकथा' के साक्ष्य पर समझने की कोशिश करेंगे।

विगत वर्षों में सामाजिक परिवर्तन के महाआख्यानों, सिद्धांतों और सामान्यीकरणों की सत्यता को लेकर संदेह बढ़ा है और सभ्यताओं एवं मानव जीवन के वैविध्य के प्रति हम ज्यादा संवेदनशील हुए हैं। यही कारण है कि जीवन चरित्रों के प्रति देसी विदेशी विद्वानों में उत्सुकता बढ़ी है। भारत के संदर्भ में यह देखना दिलचस्प होगा कि जाति और धर्म जैसी सामूहिक अस्मिताओं के बीच से वैयक्तिक अस्मिता का विकास किस रूप में होता है, और इन दोनों के अंतर्सम्बंध कैसे बनते बिगड़ते हैं। वस्तुतः जाति, धर्म, पितृसत्ता, परिवार, सामाजिक परिवर्तन, व्यक्ति और समाज के अंतर्सम्बंधों को बेहतर ढंग से समझने में ये 'आत्मचरित' मददगार साबित हो सकते हैं। इन आत्मचरितों के अध्ययन से न केवल उस व्यक्ति से सम्बंधित लोगों के बारे में, बल्कि व्यापक समाज और समाज के उस हिस्से के बारे में नयी अंतर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है।

जीवनचरितों के प्रति आकर्षण का एक कारण यह भी है कि ये आपबीती और जगबीती के बीच संचरण करते हैं और आत्मगत एवं वस्तुगत के स्पष्ट विभाजन को समस्याग्रस्त बना देते हैं। इन्हें कल्पना की उड़ान कह कर खारिज नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें 'भोगे हुए यथार्थ' की विश्वसनीयता होती है। 'आत्म' (self) के ये आख्यान सिर्फ मनोरंजक गप्प नहीं हैं बल्कि जीवन जगत को समझने की एक सार्थक कोशिश हैं। और ये भावनात्मक एवं सामाजिक यथार्थ के उन पहलुओं को समझने में सहायक साबित हो सकते हैं जो किसी अन्य माध्यम की पकड़ में आते ही नहीं। मानव जीवन के गुह्यतम रहस्यों और निहायत ही व्यक्तिगत प्रसंगों के आसपास पहुंचने का रास्ता सम्भवतः इन्हीं आत्मचरितों से होकर गुजरता है। वस्तुतः ये आख्यान जानने की वैकल्पिक विधि की ओर संकेत करते हैं और वह आधार प्रदान करते हैं जिसके सहारे हम मानव व्यवहार की जटिलतम समग्रता को समझ सकते हैं क्योंकि जैसा कि आर.सी.पी. सिन्हा ने लिखा है कि 'एक अच्छी आत्मकथा न तो पूरी तरह आत्मगत (सब्जेक्टिव) होती है और न ही सिर्फ वस्तुनिष्ठ।' (1978:7) सबसे बड़ी बात यह है कि इन आत्मचरितों के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि व्यक्ति और वैयक्तिकता की अवधारणा संस्कृति सापेक्ष होती है। वैयक्तिकता की ऐसी अवधारणा सम्भव नहीं जो संस्कृति निरपेक्ष हो, इसलिए वैयक्तिकता की सर्वकालिक सार्वभौम अवधारणा भी सम्भव नहीं।

ओरियंटलिस्ट विद्वानों द्वारा प्रचारित और अनेक भारतीय विद्वानों द्वारा भारत के वैशिष्ट्य के रूप में महिमामंडित इस 'सत्य' का ये आत्मचरित प्रायः खंडन करते हैं कि भारत में धर्म, जाति और नातेदारी की सामूहिक अस्मिताएं इतनी मजबूत थीं कि उन्होंने 'व्यक्तिवाद' की 'बुराई' को यहां पनपने ही नहीं दिया। यह जरूर है कि इनसे यह बात और स्पष्ट होती है कि भारत में वैयक्तिकता और सामूहिकता परस्पर विरोधी और एक दूसरे का निषेध करने वाली अवधारणाएं नहीं थीं। इनके बीच निरंतर संवाद होता रहता था और इनके पारस्परिक सम्बंध पुनर्परिभाषित होते रहते थे।

व्यक्ति की अवधारणा ही संस्कृति सापेक्ष नहीं बल्कि जीवन जगत का बोध, सत्य और मानवीय मूल्यों की अवधारणा भी संस्कृति सापेक्ष होती है। इसीलिए आत्मचरितों से मिलने वाला 'ज्ञान' उस संस्कृति विशेष की विचारधारा से बिंधा होता है। इस बात से इन दस्तावेजों का महत्व कम नहीं हो जाता बल्कि बढ़ जाता है, क्योंकि इनसे यह पता चलता है कि उस समाज में 'सत्य' के निरूपण के क्या निकष थे और इस सत्य तक पहुंचने की प्रविधि क्या थी। ये आत्मचरित न केवल व्यक्ति के

अनुभव और दृष्टिकोण को समझने की अंतर्दृष्टि देते हैं बल्कि उस व्यापक समाज या उस सामाजिक हिस्से को, जिससे वह व्यक्ति सम्बद्ध होता है, समझने में भी मददगार साबित होते हैं। यह जरूर है कि भारत जैसी वैविध्यपूर्ण सभ्यता में कुछ एक आत्मचरितों के आधार पर सामान्यीकरण करना ठीक नहीं होगा क्योंकि अलग अलग जाति, वर्ग, सम्प्रदाय के आत्मचरितों में पर्याप्त भिन्नता दिखायी पड़ती है। इनको एक साथ और अगल बगल रख कर देखने पर भारतीय जीवन की समग्रता को बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। नाना आख्यान प्रविधियों और अभिव्यक्ति प्रणालियों के परस्पर सम्बद्ध रूपों के तंत्र को समझने की दृष्टि से भी इन आत्मचरितों के अध्ययन की सार्थकता है। भारतीय साहित्यिक संस्कृति की एक विलक्षणता यह रही है कि एक रचना दूसरी रचना के लिए पथ प्रशस्त करती है। एक रचनाकार दूसरे रचनाकार की रचना का मूल्यांकन करता है, दूसरे रचनाकार की रचना के प्रति प्रतिक्रिया करता है और कई बार दूसरे रचनाकार की रचना की पूरक के रूप में अपनी रचना प्रस्तुत करता है। 'इंटर टेक्स्च्युएलिटी' की परम्परा भारतीय साहित्यिक संस्कृति में बहुत पुरानी और गहरी है। रचना यहां एक ऐसे घर की तरह है जिसकी दीवारें शीशे से बनी हैं; एक रचना दूसरी रचनाओं को प्रतिबिम्बित और परावर्तित करती है और उनकी परस्पर सम्बद्धता एवं बहुलता का एहसास कराती है।

(2)

असल में सवाल ये है कि औपनिवेशिक शिक्षा के प्रारम्भ से पहले भारत में आत्मकथा की परम्परा है या नहीं है। जैसा कि पहले संकेत किया गया, लम्बे समय तक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान यही मानते रहे कि भारत में आत्मकथा की परम्परा नहीं मिलती। आत्मकथा की परम्परा न होने का कारण । यह बताया गया कि यहां आत्मकथा के विकास के लिए जरूरी ज्ञानमीमांसात्मक और सांस्कृतिक परिस्थितियां मौजूद नहीं थीं। जी.एन. देवी के मुताबिक आत्म (सेल्फ) और अन्य (नान सेल्फ) को 'पुरुष' का प्रतिबिम्ब माना जाता था, एक ऐसे यथार्थ का प्रतिबिम्ब जो मानवीय अवबोध के परे था। यहां आत्म और अन्य के बीच पूर्ण पार्थक्य की परिकल्पना नहीं की गयी थी। वस्तुतः भारतीय परम्परा में अस्तित्व की समूची छटा को जटिल सातत्य के रूप में देखा जाता था। अज्ञान से वशीभूत चेतना ही इनके बीच अलगाव की परिकल्पना कर सकती थी। अतः अन्य के भौतिक अस्तित्व को स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं बचता था। इस मुसीबत से निकलने के लिए भारतीय परम्परा ने विद्या और अविद्या की अवधारणा प्रस्तुत की थी।

अन्य में भी आत्म की खोज परम लक्ष्य था और सांस्कृतिक परम्परा थी। सुदूर अतीत में जन्मी परम्परा के अनुरूप अपनी वैयक्तिकता को ढालना सबसे बड़ा सांस्कृतिक आदर्श था। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि आत्म और अन्य, देश और विदेश के विभेद को मिटा दिया जाय। यह तभी सम्भव था जब इंद्रियजन्य ज्ञान को तरजीह न दी जाय। इसीलिए इंद्रियजन्य ज्ञान को अविद्या और आत्मा से निःसृत होने वाले ज्ञान को विद्या कहा गया। इसी प्रकार यात्रा का मकसद अज्ञात क्षेत्र को जानना नहीं, बल्कि घर के महत्व को समझना, और अन्य से सम्पर्क का मतलब उसको समझना नहीं बल्कि स्वयं के वास्तविक स्वरूप को समझना हो गया। बौद्ध परम्परा में अवश्य यात्रा जीवन जीने का तरीका थी। बौद्ध परम्परा में यात्रा का मकसद वृहत्तर आत्म में स्वयं को अवमुक्त करना नहीं था, बल्कि यात्रा स्वयं में अवमुक्ति थी। अकारण नहीं है कि अश्वघोष के 'बुद्धचरितम्' में यात्रा अनुभवों के इतने सूक्ष्म वृत्तांत मिलते हैं। चूंकि हिन्दू मानस में पृथक अन्य की कोई स्पष्ट अवधारणा मौजूद नहीं थी, इसीलिए इस परम्परा में न तो यात्रा वृत्तांत लिखे गये और न ही आत्मकथा लिखी गयी। वस्तुतः अन्य (व्यक्ति/देश/क्षेत्र) को न देख पाने के मूल में भारतीय ज्ञानमीमांसा की परम्परा

है। वास्तव में हमारी 'देखने' की सामर्थ्य प्रायः उन सांस्कृतिक स्थितियों से निर्धारित होती है जिनमें हम पलते बढ़ते हैं। (1995:154-55, 57-58) जी.एन. देवी लिखते हैं— “एक ऐसे समाज में जहाँ क्रियाकलाप की न्यूनतम इकाई व्यक्ति नहीं समाज था, जहाँ अहं (इगो) को ब्रह्म का सूक्ष्म अंश माना जाता था, आत्मकथा के लिए ज्यादा गुंजाइश नहीं थी। आत्मकथा के लिए निश्चित अंत और रेखीय समय की अवधारणा जरूरी है लेकिन ये अवधारणाएं भारतीय दर्शन और जीवनदृष्टि में मौजूद नहीं थीं।” (देखें जी.एन. देवी, 1995, 81) देवी ने आगे लिखा है कि भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं में आत्मकथात्मक तत्व जरूर मिलते हैं लेकिन इनका उद्देश्य अहं का उत्सव मनाना नहीं, अहं का उदात्तीकरण है। ये आत्मकथात्मक कविताएं नहीं हैं बल्कि संतों की कविताएं हैं। एक कलाकार के रूप में जागरूकता ब्रिटिश उपनिवेशवाद की देन है। (जी.एन. देवी, 1995 : 81)

स्पष्ट है कि देवी के अनुसार आत्म और रेखीय समय की अवधारणा के अभाव में आत्मकथा का विकास भारत में असम्भव था। यह कहने की जरूरत नहीं कि आत्म या वैयक्तिकता के विकास के साथ पश्चिम में आधुनिकता के अभ्युदय का इतिहास भी जुड़ा हुआ है। इसका मतलब यह भी हुआ कि भारत में आधुनिकता का विकास नहीं हो सकता था क्योंकि यहां आत्म या वैयक्तिकता के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी।

लम्बे समय तक पश्चिमी विद्वान यही राग अलापते रहे हैं कि गैर यूरोपीय समाजों में कुछ ऐसी अक्षमताएं थीं जिनके कारण वहां आधुनिकता का विकास असम्भव था। विडम्बना यह है कि देवी की तर्क प्रणाली जाने अनजाने इस राग में सुर मिलाती प्रतीत होती है।

भारतीय सभ्यता की ये 'अंतर्निहित खामियां' ही आनंद कुमार स्वामी की नजर में इसकी खूबियां थीं। इन्हीं खूबियों के चलते यह सभ्यता आधुनिकता के 'अभिशाप' का शिकार नहीं हुई। आनंद कुमार स्वामी ने लिखा है : “हिन्दू धर्म ने आत्माभियक्ति के किसी भी रूप को न्यायोचित नहीं माना। इसका लक्ष्य हमेशा आध्यात्मिक स्वाधीनता रहा। जहां लोग आंतरिक जीवन की पर्याप्तता के बारे में सचेत होते हैं, अपने या किसी परिवर्तनशील व्यक्तित्व की वाह्य अभिव्यक्ति के प्रति उदासीन हो जाते हैं। हिन्दू सामाजिक अनुशासन का अंतिम उद्देश्य यह है कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता को वृहत्तर और गहनतर से संयुक्त करे, सफलता या असफलता की परवाह किये बगैर अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करें। कालातीत और परिवर्तनशील रूप में फर्क समझे और 'मैं' और 'मेरे' के संकीर्ण पिंजड़े में न फंसे।

अज्ञात रहना इस सत्य के अनुरूप है और यह भारतीय सभ्यता की सर्वाधिक गौरवशाली विलक्षणताओं में से एक है। महाकाव्य के रचयिताओं के नाम सिर्फ छायें हैं, परवर्ती काल के लेखकों में भी अपना नाम न देने और अपनी रचना को किसी मिथकीय या प्रसिद्ध कवि से जोड़ देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। इसका उद्देश्य सत्य के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट करना था; सत्य जिसे 'रचने' का दावा वे नहीं करते थे बल्कि यह कहते थे कि उसे उन्होंने 'सुना' है। इसी प्रकार शायद ही कोई हिन्दू चित्रकार या मूर्तिकार हो जिसका नाम ज्ञात हो; और समूचे संस्कृत साहित्य में एक भी आत्मकथा नहीं है, इतिहास भी बहुत थोड़ा है।” (1982:119)

स्पष्ट है कि आनंद कुमार स्वामी और जी.एन. देवी दोनों यह मानते हैं कि भारतीय सभ्यता में वैयक्तिकता और आत्मकथा का अभाव था। एक की दृष्टि में यह अभाव भारतीय सभ्यता की खूबी का सूचक है और दूसरे की दृष्टि में खामी का। सम्भवतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों दृष्टियां भारतीय सभ्यता की पश्चिम द्वारा निर्मित छवि को प्रश्नांकित नहीं करतीं। यही नहीं, भारतीय सभ्यता की विलक्षणताओं की समझने की कोशिश भी यहां नहीं दिखती।

असल में कोई भी सभ्यता किन्हीं ज्ञान मीमांसात्मक सूत्रों से प्रभावित तो हो सकती है लेकिन निर्धारित नहीं होती। किसी सभ्यता के समूचे विकासक्रम को किन्हीं बुनियादी ज्ञानमीमांसात्मक सूत्रों से

निःसृत और निर्धारित मानना एक मिथ ही है। यथार्थ में ऐसा होता नहीं। भारत जैसी बहुसांस्कृतिक और वैविध्यपूर्ण सभ्यता को तो इस प्रकार के बुनियादी दार्शनिक सूत्रों के आधार पर समझा ही नहीं जा सकता। इस्लाम को अगर छोड़ भी दें तो यहां हिन्दू परम्परा में ही षडदर्शन हैं, योग, ज्ञान एवं भक्ति की परम्परा है; साथ ही जैन तथा बौद्ध दर्शन की परम्परा भी है। नहीं भूलना चाहिए कि शास्त्रीय परम्परा के साथ साथ यहां लोक परम्परा का वैविध्यपूर्ण और स्वायत्त क्षेत्र है। यहां शास्त्र लोक को अपदस्थ नहीं करता बल्कि कई बार लोक ही शास्त्र जैसी गरिमा और प्रतिष्ठा अर्जित कर लेता है। लोक ही शास्त्र की उंगली नहीं पकड़ता, शास्त्र भी लोक के सहारे पुनर्नवता अर्जित करता है।

वस्तुतः भारतीय सभ्यता में व्यक्ति और समाज के सम्बंध की अवधारणा बहुस्तरीय, सूक्ष्म और जटिल है। इस बहुस्तरीय जटिलता को पश्चिम में विकसित होने वाले समाजविज्ञान के सहारे नहीं समझा जा सकता। विडम्बना यह है कि भारत में विकसित होने वाला समाजविज्ञान, पश्चिम से बुरी तरह प्रभावित होने के कारण, अभी इस हालत में नहीं कि इस सभ्यता की विलक्षणताओं की ठीक ठीक व्याख्या कर सके। यही कारण है कि जिजा और धर्म की सामूहिक अस्मिताएं तो पकड़ में आ जाती हैं लेकिन बहुस्तरीय जटिलता समझ में नहीं आती। मिसाल के तौर पर कुछेक बातें आपके सामने रखता हूँ...

कर्मों का फल व्यक्ति अकेले ही भोगता है। कर्म के साथ साथ ज्ञान, स्वाध्याय, तप, योग, साधना (पूजा संध्या इत्यादि) की अवधारणाओं का सम्बंध जाति नहीं व्यक्ति से है। मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, जीवन मृत्यु, पुनर्जन्म की अवधारणाओं का सम्बंध भी व्यक्ति से है। बाल्मीकि कृत रामायण में इसीलिए राम कहते हैं 'व्यक्ति अकेले ही अपने कुल को तारता है, अकेले ही राजा अपने राज्य का पालन करता है; स्वर्ग या नर्क की यात्रा भी व्यक्ति अकेले ही करता है।'

असल में अपनी संस्कृति की खामियों पर विलाप करने या खूबियों पर प्रलाप करने से ज्यादा जरूरी है उसकी विलक्षणताओं और प्राथमिकताओं को समझना। संस्कृतियों की तुलना करते समय यह बात ध्यान में होनी चाहिए कि उनकी विलक्षणताएं और प्राथमिकताएं अलग अलग हो सकती हैं। किन्तु इस भिन्नता के आधार पर इनमें से किसी को हेय और किसी को श्रेष्ठ घोषित करने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। मुकुंद लाठ ने सही लिखा है कि *“भारतीयों में कोई अंतर्निहित बौद्धिक अक्षमता नहीं थी जिसके कारण वे इतिहास लिखने और आत्मकथा में स्वयं को अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ साबित हुए। आज शायद ही कोई इस बात में यकीन करे, यद्यपि एक समय तक यह माना जाता था, कि कुछ क्षमताएं एक विशिष्ट प्रजाति के लोगों में जन्मजात होती हैं, जबकि दूसरी प्रजाति के लोगों में इनका स्वभाववश अभाव होता है।”* (2005:14)

भारतीय संस्कृति में रचनाकार कलाकार हमेशा अनाम ही नहीं रहता, वह अपने नाम और वैशिष्ट्य की घोषणा भी करता है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में लिखा है कि उनके नाटक को सिर्फ इसलिए खारिज नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वह नया है। उन्होंने लिखा है कि पुरानी होने से कोई चीज श्रेष्ठ नहीं हो जाती और न नयी होने से ही वंदनीय। संत परीक्षा के बाद किसी चीज का महत्व स्वीकार करते हैं, जबकि मूढ़ दूसरों द्वारा कही बातों के आधार पर अपनी राय बनाते हैं। भवभूति ने 'मालतीमाधवम्' नाटक में लिखा है कि *“मैं मानता हूँ कि मेरी रचना को खारिज करने वाले लोग ज्ञानी हैं। किन्तु मेरा प्रयास उन लोगों के लिए नहीं है। कभी, कहीं मेरी रचना को समझने वाला सहृदय जरूर मिलेगा क्योंकि संसार बहुत बड़ा है और काल का कोई अंत नहीं है।”* 'उत्तर रामचरितम्' में तो उन्होंने अपना परिचय एक ऐसा रचयिता के रूप में दिया गया है जिसकी सेविका विद्या की देवी सरस्वती स्वयं हैं। तर्कशास्त्र में निष्णात जयदेव अपने 'प्रसन्नराघव' नाटक में और काशीपति 'मुकुन्दनन्दभान' नाटक में अपने बारे में इसी प्रकार की गर्वोक्ति करते हैं।

अपने बारे में लिखने का चलन नाटकों तक सीमित नहीं था। कथा लेखकों से भी यह

अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने और अपनी वंशावली के बारे में बतायें। रुद्र ने इस प्रकार का निर्देश 'काव्यालंकार' में दिया है। रुद्र से पहले लिखी गयी प्राकृत कथा 'लीलावती' से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अपने बारे में लिखने की परम्परा पहले से चली आ रही थी। जैन कवि स्वयंभू ने तो 'पयमचरितु' में अपने चेहरे मोहरे का भी वर्णन किया है।

काव्य में कविता की अंतिम पंक्ति में अपना नामोल्लेख करने की परम्परा बहुत पुरानी है। आठवीं सदी से तो उसके प्रमाण भी उपलब्ध हैं। रहस्यवादी बौद्ध कवियों, सरहपाद, सान्तिपाद, भुसुकपाद लुईपाद के आठवीं और बारहवीं सदी के बीच लिखे गये चर्यागीतों में रचनाकारों के नाम मौजूद हैं। 'गीत गोविन्द' के कवि जयदेव और 'सुभाषित रत्नकोश' के रचनाकार धर्मकीर्ति भी अपनी रचनात्मक सामर्थ्य और काव्य कला के बारे में आश्वस्त हैं और बाकायदा इसकी घोषणा भी करते हैं। वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत के रचनाकारों को लेकर यदि दुविधा की स्थिति है तो उसका कारण कदाचित् यह है कि प्रभाव और ख्याति को बढ़ाने के लिए इनका सम्बंध अतिमानवीय या दैवी शक्तियों से जोड़ दिया गया था। इन्हें अपौरुषेय बना दिया गया था।

चित्रकारों, मूर्तिकारों, शिल्पकारों और स्थापत्यकारों के नामों का उल्लेख कम मिलता है। इसका कारण कदाचित् यह कि इन कलाओं को साहित्य, दर्शन, विज्ञान के मुकाबले निम्नतर स्तर की कला माना जाता था। लेकिन विगत वर्षों में हुए शोध से यह पता लगा है कि इन कलाओं से सम्बंधित सभी कलाकार गुमनाम नहीं हैं जैसे — महोबा की प्रसिद्ध बुद्ध मूर्ति बनाने वाले का नाम चितनाक था, जो सभी कलाओं में पारंगत था। उसका पिता सतनास चित्रकार था। चितनाक की पत्नी मूर्तिकार थी। इसी तरह हरि हर (शिव विष्णु) की प्रसिद्ध मूर्ति बनाने वाले उत्तर बंगाल के मूर्तिकार का नाम रनक सुलापानी था। कर्नाटक में तो कलाकारों का नाम देने की परम्परा काफी पुरानी है। कोणार्क के महान स्थापत्यकार सूत्रधार सदाशिव समंतराय महापात्र ने तो अपने और अपनी पत्नी के चित्र के नीचे हस्ताक्षर भी किया है, जिसे आज भी देखा जा सकता है। अब तो कोणार्क के सूर्य मंदिर के निर्माण में कार्य करने वाले ज्यादातर कलाकारों के नाम खोज लिये गये हैं।

ऊपर दिये गये उदाहरणों से यह तो स्पष्ट होता है कि भारत में कवि, कथाकार और शिल्पकार अपने वैशिष्ट्य और वैयक्तिकता को लेकर सचेत थे और उसका बड़ चढ़ कर बखान भी करते थे। यहां आत्मकथा भले न लिखी गयी हो लेकिन आत्मकथा लिखने की सम्भावना मौजूद थी। यह अवश्य है कि चूंकि यहां 'आत्म' के मायने पश्चिम से भिन्न थे और यहां की साहित्यिक संस्कृति भी पश्चिम से अलग थी, इसलिए यहां 'आत्म' की अभिव्यक्ति के लिए आत्मकथा की स्वतंत्र विधा का विकास भी बहुत बाद में हुआ। यह जोड़ना जरूरी है कि 'आत्म' की अवधारणा भी समय के साथ बदलती रही है। 'आत्म' की उत्पत्तिमूलक अपरिवर्तनशील अवधारणा एक मिथ है जिसे औपनिवेशिक वर्चस्व के दौरान गढ़ा गया था। सच तो यह है कि न तो भारत का इतिहास अपरिवर्तनशील — अवरुद्ध था और न ही 'आत्म' की अवधारणा स्थिर शाश्वत थी। यह जरूर है कि यहां 'आत्म' और 'अन्य' में सदैव एकांतिक विरोध देखने की प्रवृत्ति नहीं रही। इससे यदि कई फायदे हुए तो कुछ नुकसान भी हुए। लेकिन फिलहाल इस तफसील में जाने के बजाए यह देखें कि 'आत्म' की अभिव्यक्ति कोई जरूरी नहीं कि हमेशा एक स्वतंत्र विधा में हो। लेखकत्रय वी. नारायण राव, डेविडशुलमन और संजय सुब्रह्मण्यम ने अपनी अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक 'टेक्सचर आफ टाइम' में लिखा है कि दक्षिण भारत में इतिहास कई विधाओं में लिखा गया है। इतिहास लेखन के लिए विधा के औपचारिक लक्षणों की पाबंदी को मानना जरूरी नहीं। दक्षिण भारत में इतिहास लेखन की कोई स्वतंत्र विधा नहीं थी, किसी एक विधा में इतिहास लेखन नहीं किया गया। (2001:3)

जो बात दक्षिण भारत में इतिहास लेखन के संदर्भ में लेखकत्रय ने कही है, वही बात आत्माभिव्यक्ति के संदर्भ में भी कही जा सकती है। भारत में आत्माभिव्यक्ति के लिए लम्बे समय तक

कोई स्वतंत्र विधा नहीं थी। स्वतंत्र विधा न होने का मतलब यह नहीं निकाला जाना चाहिए कि यहां सामूहिक अस्मिताएं इतनी प्रबल थीं कि आत्म की अस्मिता का विकास ही न हो सका। असल में विभिन्न विधाओं में बिखरी पड़ी आत्माभिव्यक्तियों को चिह्नित करने के लिए ऐसे सांस्कृतिक पर्यावरण की आवश्यकता होती है जो इन रचनाओं के टेक्सचर के प्रति संवेदनशील हो। लेखकत्रय के शब्दों में कहें तो “पिछले दो सौ या उससे भी अधिक वर्षों के दौरान भारतीय रचनाओं के साथ इतना हिंसक बर्ताव किया गया है कि इस पर्यावरण को दोबारा निर्मित करने की जरूरत है। यह आसान नहीं होगा क्योंकि नुकसान बहुत भारी है। जरूरत इस बात की है कि हम इन रचनाओं को नये ढंग से पढ़ें।” (2001:5) लेकिन समस्या यह है कि “उस संस्कृति में पलने बढ़ने वाला पाठक/श्रोता ही रचना के टेक्सचर के प्रति सहज रूप से संवेदनशील होता है। बहुत कुछ वाचक/लेखक और श्रोता की अविभाज्यता पर निर्भर करता है, यदि यह सम्बंध टूट जाता है या रचना किसी तरह किसी नये रूप में विस्थापित हो जाती है और उसके श्रोता भी बदल जाते हैं तो रचना की अभिव्यक्ति क्षमता भी नष्ट हो जाती है। जब सवाल बहुत गहरे जाने वाले हों और उनका सम्बंध प्रकृति और इरादे से हो तो संवेदनशील श्रोता के खात्मे का मतलब होता है बोध में बुनियादी त्रुटि।” (2001:56)

कहने की आवश्यकता नहीं कि विभिन्न विधाओं में बिखरे पड़े आत्माभिव्यक्ति के चिह्नों को समझने में भी इस प्रकार की बुनियादी गलती हुई है। इस गलती को ठीक करने के लिए सम्भवतः वृहत् शोध की आवश्यकता पड़ेगी। फिलहाल, मैं आत्माभिव्यक्ति के कुछ स्थूल उदाहरण ढूंगा और फिर ‘अर्द्धकथानक’ की चर्चा करूंगा जहां आत्माभिव्यक्ति एक विधा के औपचारिक बंधनों में साकार हुई है।

यदि शिलालेखों, प्रशस्तियों को छोड़ भी दें तो यह सर्वविदित है कि विभिन्न कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने बारे में भी लिखा है। कालिदास, भवभूति, शूद्रक के यहां भी आत्मकथात्मक प्रसंग खोजे जा सकते हैं।

संस्कृत में काल्पनिक गल्प के लिए और यथार्थपरक गल्प के लिए आख्यायिका शब्द मान्य है। संस्कृत साहित्य में कथाओं की तो भरमार है लेकिन आख्यायिका के रूप में बाणभट्ट की कृति ‘हर्षचरित’ ही मिलती हैं। दंडी की रचना ‘दशकुमार चरितम्’ में आख्यायिका की विशेषताएं मिलती हैं किन्तु प्रायः इसे न तो आख्यायिका की श्रेणी में रखा जाता है और न ही कथा की। दंडी की दूसरी रचना ‘अवंतीसुंदरी’ कथा की श्रेणी में आती है लेकिन इसके प्रारम्भ में दंडी ने अपना व्यक्तिगत इतिहास भी लिख दिया है। मुकुंद लाठ ने एक आख्यायिका खोज निकालने का दावा किया है, जिसका नाम है ‘माधविका’।

ग्यारहवीं सदी में विल्लड़ ने ‘विक्रमांकदेवचरित’ में बाणभट्ट की तरह अपना जीवनचरित भी दिया है। कल्लड़ की ‘राजतरंगिणी’ में भी आत्मकथात्मक संदर्भ मौजूद हैं। बारहवीं सदी के अंत में श्रीहर्ष द्वारा लिखित ‘नैशधीयचरित’ में श्रीहर्ष ने अपने बारे में लिखा है। चौदहवीं शताब्दी तक आते आते तो चरित लेखन का सिलसिला चल पड़ता है। आर.सी.पी. सिन्हा ने इस प्रकार की बारह रचनाओं का उल्लेख किया है। (1978:26)

इन चरितकाव्यों में अपने आश्रयदाता राजा का बखान करने के साथ साथ रचनाकार अपने बारे में भी थोड़ा बहुत जरूर लिखता था। वह सिर्फ चरितकार नहीं है, बल्कि समूचे घटनाक्रम में भी कहीं न कहीं मौजूद है। आश्रयदाता का आख्यान तो इन चरितकाव्यों में है ही, साथ ही रचनाकार का आख्यान भी, कुछ अंशों में ही सही, इनमें मिल जाता है।

इस्लाम के आगमन के बाद, तेरहवीं शताब्दी से, फारसी में आत्मकथा, संस्मरण और यात्रा वृत्तांत लिखने का सिलसिला जोर पकड़ता है। इनमें ‘बाबरनामा’ सबसे महत्वपूर्ण है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के वर्चस्व से ठीक पहले अठारहवीं सदी में ग्यारह आत्मकथाएं/संस्मरण लिखे जाने के प्रमाण उपलब्ध

हैं। ये संस्मरण/आत्मकथाएं विद्वानों, अधिकारियों ने लिखे और इनमें मुसलमानों के साथ साथ हिन्दुओं के नाम भी शामिल हैं। इन उदाहरणों से यह तो साबित होता है कि व्यक्ति की अवधारणा का विकास सिर्फ पश्चिम की विशेषता नहीं है। डेविड आर्नल्ड और स्टुअर्ट ब्लैकबर्न ने सही लिखा है कि “जरूरी नहीं कि भारत में जीवनचरित पश्चिमी परिपाटियों और अभिव्यक्ति पद्धतियों के अनुरूप हों, (कुछ हैं, कुछ नहीं हैं) और न ही किसी को यह उम्मीद करनी चाहिए कि पश्चिम में विकसित व्यक्तिवाद की भारत में यथावत् पुनरावृत्ति हो।” (2004:3) इधर हुए अध्ययनों से यह भी बात साफ हो चली है कि आत्मकथा, उपन्यास और इतिहास में वैसा आत्यंतिक विभेद नहीं है जैसा पहले मान लिया गया था। लिण्डा एंडरसन ने, पाल डी मान के साक्ष्य पर लिखा है कि आत्मकथा एक स्वतंत्र विधा नहीं है, यह पढ़ने या समझने के एक तरीके का नाम है। यह बात केवल आत्मकथा पर नहीं, बल्कि अन्य विधाओं की रचनाओं पर भी लागू होती है। (2001:12) इसलिए न तो आत्म और न ही आत्मचरित की कोई सर्वस्वीकृत, पश्चिम द्वारा मान्यताप्राप्त अवधारणा हो सकती हैं। भिन्न भिन्न संस्कृतियां अपने विकासक्रम के दौरान आत्म और आत्मचरित की अलग अलग अवधारणाएं और रूप विकसित करती हैं।

(3)

‘अर्द्धकथा’ या ‘अर्द्धकथानक’ के अंत में बनारसीदास ने स्वयं बताया है कि उन्होंने संस्कृत भाषा और जैन ग्रंथों का विशेष अध्ययन किया था। फारसी का उल्लेख तो नहीं किया लेकिन लगता है कि मुगल हाकिमों के सम्पर्क में रहने के कारण उन्हें फारसी का कामचलाऊ ज्ञान जरूर रहा होगा। लेकिन मुकुंद लाठ का विचार है कि फारसी साहित्य से उनका कोई परिचय नहीं था। वे जौनपुर के रहने वाले थे और सूफी कवि कुतुबन द्वारा रचित मृगावती तथा मंझन कृत मधुमालती उन्हें बहुत पसंद थी। आगरे में रहते हुए, गर्दिश के दिनों में, वे इनका पाठ कर लोगों का मन मोह लेते थे। बनारसीदास ने ‘अर्द्धकथानक’ की भाषा को मध्यदेश की भाषा कहा है। यह आगरे की ब्रजभाषा ही है, जिस पर खड़ी बोली या हिन्दुगी का भी प्रभाव है। सूफी कवियों से परिचित थे तो अवधी जानते होंगे, लेकिन कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं जिससे यह मालूम हो कि ‘रामचरित मानस’ से वाकिफ थे। सगुण वैष्णव कवियों की रचनाओं से परिचित होने का भी एहसास ‘अर्द्धकथानक’ पढ़ कर नहीं होता। मुकुंदलाठ का अनुमान है कि बनारसीदास दादू, नानक, कबीर की रचनाओं से परिचित थे। यह अनुमान उनके विचारों के मद्देनजर सही लगता है। बनारसीदास ने सूफी कवियों की तरह चौपाई और दोहे का प्रयोग किया है, लेकिन भाषा अवधी के बजाय ब्रज रखी है। फारसी अरबी के प्रचलित शब्दों का इस्तेमाल भी बेधड़क किया है। वसुधा डालमिया का खयाल है कि बनारसी दास वार्ता परम्परा (वैष्णव वार्ताएं) और चरित परम्परा (हर्षचरित) से परिचित थे। (2008:48) इसलिए यह कहना तो शायद ठीक नहीं होगा कि बनारसीदास ने पूर्व परम्परा से कुछ लिया ही नहीं। ‘अर्द्धकथानक’ का महत्व यह है कि यह किसी भी भारतीय भाषा में लिखी गयी पहली आत्मकथा है और इसे किसी बादशाह हाकिम ने नहीं, एक सामान्य व्यापारी ने लिखा है। एक सामान्य व्यापारी का जीवन सत्रहवीं सदी में कैसा रहा होगा और उसे किस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता रहा होगा, इसका अनुमान ‘अर्द्धकथानक’ पढ़ कर लगाया जा सकता है। जैसे तो बनारसीदास जैन थे और ‘अध्यात्मी’ नामक सम्प्रदाय के जनक के रूप में उन्हें याद किया जाता है, लेकिन उनकी आत्मकथा में धार्मिकता के बजाय आध्यात्मिक जिज्ञासा का पक्ष महत्वपूर्ण है। एक व्यापारी का व्यापार राजनीतिक घटनाक्रमों से बुरी तरह प्रभावित होता था, इसीलिए इसमें राजनीतिक घटनाक्रमों का इतिहास भी दर्ज है। यही कारण है कि ऐतिहासिक अध्ययनों में इसका प्रयोग एक साक्ष्य के रूप में किया गया है। (रमेशचंद शर्मा, 1970:49-73, 105-20) तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक जीवन को समझने की दृष्टि से भी यह कृति कम महत्वपूर्ण नहीं। (देखें

यूजेनिया बनीना, (1995:211-24) इस कृति के साहित्यिक महत्व का सबसे अच्छा रेखांकन रूपट स्नेल ने किया है। उन्होंने इस प्रचलित अवधारणा को खारिज किया है कि 'साहित्यिक दृष्टि' से यह बहुत ही मामूली रचना है। (2005:79-104) तत्कालीन परिवेश में 'व्यक्ति' की स्थिति को समझने की दृष्टि से अरुणदास गुप्ता का लेख (1994:1-27) महत्वपूर्ण है। हिन्दी में नाथूराम प्रेमी (1957) का काम भी उल्लेखनीय है। इस विस्तार में जाना तो फिलहाल सम्भव नहीं होगा, इसलिए इस रचना से सम्बंधित कुछ बुनियादी बातों तक ही मैं अपने को सीमित रखूंगा। इस चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि हम 'अर्द्धकथानक' की कथा से, संक्षेप में सही, परिचित हो लें। बनारसीदास का जन्म जैन व्यवसायी परिवार में 1586 ई में हुआ था और उनके गोत्र का नाम श्रीमाल था। ये लोग उत्तर भारत के लगभग सभी प्रमुख शहरों में फैले हुए थे। इनमें से कुछ तो मुगल शासन में ऊंचे पदों पर आसीन थे। बनारसीदास ने जब 'अर्द्धकथा' या 'अर्द्धकथानक' लिखा वे 55 वर्ष के थे। जैन परम्परा में इन्सान की उम्र 110 साल मानी गयी है। इसीलिए उन्होंने इसे 'अर्द्धकथा' नाम दिया।

बनारसीदास का बचपन जौनपुर में बीता। उन्होंने काफी कम उम्र से कविताएं लिखनी शुरू कर दी थीं। उन्होंने प्रेम से सम्बंधित 1000 कविताएं लिखी थीं जिन्हें उन्होंने आत्मग्लानि के वशीभूत होकर गोमती नदी में फेंक दिया था। चौदह वर्ष की आयु में उन्हें अध्ययन, अध्यवसाय और आशिकी के जूनून सवार हुए। ज्ञानपिपासा का जूनून ज्यादा टिकाऊ साबित हुआ, जीवनपर्यन्त बना रहा।

उनकी जवानी का ज्यादातर समय आगरा में बीता। व्यवसाय में कई बार घाटा हुआ। बहुत बाद में वे एक व्यवसायी के रूप में सफल हुए। कैसे सफल हुए यह बात वे नहीं बताते और कहते हैं कि लोग तो अपनी स्थूल बातें भी नहीं बताते हैं, जिन्हें हर कोई जानता है। 'अलप थूल भी कहै न कोय, भाषै सो जु केबली होय।'

उन्नीस वर्ष की आयु में उन्हें प्रेम की व्यर्थता का एहसास हुआ और धर्म की ओर उनका झुकाव बढ़ा। 35 वर्ष की आयु में धर्म के कर्मकांडी गुह्यरूप से उनका मोहभंग हो गया और वे इसका मजाक उड़ाने लगे। अब उनकी अभिरुचि जैन धर्म के अध्यात्म आंदोलन की ओर मुड़ गयी। यह आंदोलन कर्मकांड का विरोधी था और चिन्तनशीलता और आंतरिक शुचिता पर बल देता था। इसी अध्यात्म आंदोलन ने आगे चल कर दिगम्बर पंथ के 'तेरापथ' सम्प्रदाय को जन्म दिया। 'तेरापथ' बनारसीदास को अपना आदिगुरु मानता है।

बनारसीदास के विद्रोही तेवर का दौर 1623-1635 तक चला। इसे वास्तव में धर्म शून्यता का दौर कहना अनुचित न होगा। यह ठीक है कि बाद में 'गोमतसार' के अध्ययन से उन्हें यह समझ में आया कि मनुष्य का नैतिक चरित्र आयु सापेक्ष होता है और उसमें अंतर्विरोध देखना स्यादवाद के सिद्धांत के अनुरूप नहीं है। बनारसीदास का व्यक्तित्व विलक्षण था। मुकुंद लाठ के शब्दों में वह एक ऐसे आध्यात्मिक गुरु थे जो स्वयं आध्यात्मिक संकट से ग्रस्त थे। उन्होंने आध्यात्मिक सिद्धि का कोई दावा नहीं किया। वह एक मूर्तिभंजक विद्रोही थे, उन चीजों का विरोध करते थे जो उनकी दृष्टि में मृत या अर्थहीन थीं। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने आपस में भाईचारे का सम्बंध कायम किया, उनकी एकता का कारण सम्मान नहीं, विरोध रहा होगा। (2005 : 37-38) दूसरे गुरुओं की तरह उन्होंने आध्यात्मिक मुक्ति के लिए किसी नियम विधान या प्रणाली का बखान नहीं किया, सिर्फ आंतरिक खोज पर जोर दिया। उनका समूह एक ऐसा समूह था जिसमें गुरु और शिष्य दोनों सच्चे पथ की खोज में निकले तीर्थयात्री थे। (2005 : 23-38)

बनारसीदास एक ऐसे नेता, गुरु, उपदेशक हुए जिनके यहां उहापोह अंत तक बना रहता है। आत्मचरित्र के अंत में वह कहते हैं कि 'जाने सरब अरथ को भेद, माने नहीं जगत को षेद' (खेद) तो उसके ठीक बाद संतानहीनता का दुःख भी प्रकट कर देते हैं 'नौ बालक हुए मुवे, रहे नर नारि दोय; ज्यों तरवर पतझार है, रहे ठूठ से होय'।

यह बात सही है कि बनारसीदास प्रसिद्ध विद्वान रूपचंद से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्हीं के सानिध्य में उन्होंने 'गोमतसार' ग्रंथ का अध्ययन किया था, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें कर्मकांडों और धार्मिक आचार विचार का सापेक्षिक महत्व समझ में आया था। लेकिन उन्होंने उन धार्मिक कर्मकांडों और आचार विचारों को, जिन्हें वे मृत और अर्थहीन मान चुके थे, कभी भी अंतर्मन से स्वीकार नहीं किया; और न ही उन्होंने कोई वैकल्पिक पंथ बनाने और आचार विचार की पद्धति विकसित करने की कोशिश की। 'अध्यात्मी' ऐसे लोगों का समूह था जो किसी सुपरिभाषित धर्म या पंथ के कारण नहीं, बल्कि प्रश्नाकुल जिज्ञासा के कारण एकजुट हुए थे। अध्यात्मियों की विलक्षणता ये थी कि इसके प्रतिपादक साधु, संत, संन्यासी या भिक्षु नहीं थे। वे सामान्य गृहस्थ थे जो अपने कामकाज और व्यवसाय में सक्रिय थे। विरोधी इस बात के लिए उनकी आलोचना करते थे कि उनके यहां कोई गुरु नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार गृहस्थ और अपने काम धंधे में लगा हुआ व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता। अध्यात्मी शहरी, शिक्षित और सांसारिक लोग थे। धर्म मीमांसा को उन्होंने गम्भीरता से लिया लेकिन इसके लिए संसार त्यागने की जरूरत नहीं समझी। उनके अनुसार त्याग की चेतना और सच्ची ज्ञानपिपासा ज्यादा जरूरी चीजें थीं। ऊपर से आरोपित इंद्रिय निग्रह, संयम और आत्मपीड़क साधना तपस्या में उनका विश्वास नहीं था। अकारण नहीं है कि कबीर की तरह अध्यात्मियों को अज्ञानी और मूर्ख बता कर उनकी निन्दा की गयी।

असलियत का पता करना हो तो विरोधी से पूछो। यशोविजय अध्यात्मियों के विरोधी थे। उन्होंने लिखा है कि "ये बदमाश निर्गुण के नाम पर धर्म के पारम्परिक रूपों को नष्ट कर देना चाहते हैं।" (2005:38) मेघविजय भी अध्यात्मी आंदोलन को नैतिक पतन के प्रमाण के रूप में देखते थे : "कलियुग में ज्यादातर लोग भौतिकवादी, स्वार्थी और आत्म प्रशंसक हो गये हैं, वे प्राचीन संस्थाओं मूल्यों की निन्दा करते हैं, क्योंकि उनमें त्याग, तपस्या और संयम पर जोर था।"

मुकुंद लाठ ने सही लिखा है कि "शुरुआती अध्यात्म एक बौद्धिक आंदोलन था, जो एक ढीले ढाले छोटे से समूह के रूप में संगठित था, कई शहरों में बिखरा हुआ था और धार्मिक विषयों की आलोचनात्मक परीक्षा की चेतना से प्रेरित था। यह विवेक द्वारा संचालित था और इसने आस्था और आचरण की विचित्र मूढ़ताओं के विरुद्ध आवाज उठायी जो उस समय के प्रतिष्ठित धर्मों में आ गयी थी।... यह कबीर, दादू, नानक, और दूसरे निर्गुण संतों के विचारों से प्रेरित था।... इसकी मुख्य चालक शक्ति गहरी रहस्य चेतना नहीं बल्कि विमर्शात्मक खोजबीन और प्रश्नाकुलता थी, जिसकी बुनियाद में नयी सोच पैदा करने की चाहत थी। बनारसीदास के कारण ही इस आंदोलन का प्रभाव महसूस किया जाने लगा। यद्यपि बनारसीदास आंतरिक गवेषणा पर बल देते थे लेकिन वे रहस्यवादी नहीं थे और उनके नेतृत्व में इस समूह में उत्साह का संचार रहस्यावाद के बजाय तार्किकता के गर्भ से होता था।" (2005:39)

(4)

बनारसीदास, 'अर्द्धकथानक' और 'अध्यात्म' सम्प्रदाय से सम्बंधित इस चर्चा के बाद हम उस बहस की ओर वापस लौटने की स्थिति में आ गये हैं जिससे इस लेख की शुरुआत हुई थी।

'अर्द्धकथानक' पढ़ते हुए हमारा ध्यान जिस बात की तरफ सबसे पहले जाता है वह है कथानायक की वैयक्तिकता। वह किसी जाति या सम्प्रदाय का सिर्फ प्रतिनिधि मात्र नहीं है, उसकी अपनी निजी वैयक्तिकता है। यह ठीक है कि उसका जन्म एक जाति विशेष में हुआ किन्तु उसकी समूची अस्मिता किसी जाति या सम्प्रदाय से पूरी तरह निर्धारित और नियंत्रित नहीं होती। यह कहना तो सम्भवतः हास्यास्पद होगा कि उसकी अस्मिता किन्हीं तात्विक और बुनियादी ज्ञानमीमांसात्मक सूत्रों

से संचालित होती है। वस्तुतः जाति, सम्प्रदाय और ज्ञानमीमांसात्मक सूत्रों द्वारा परिभाषित अस्मिता और अवबोध का अतिक्रमण 'अर्द्धकथानक' का कथानायक प्रारम्भ से ही करने लगता है, और यह सिलसिला जीवन पर्यन्त चलता है। बनारसीदास के व्यक्तित्व में अध्ययनशील जिज्ञासा, रसिकता और आध्यात्मिकता का अद्भुत संयोग दिखायी पड़ता है। प्रारम्भ से उनके दो व्यसन थे — आशिकी और अध्ययन अध्यवसाय :

कै पढ़ना कै आसिखी मगन दुह रसमाहिं ।

खान पान की सुध नहीं रोगगार किछु नाहिं ।।

यही कारण है कि बड़े बुजुर्ग उन्हें अध्ययन, अध्यवसाय और इश्क मुहब्बत के चक्कर में न पड़ने और अपने पुश्तैनी काम में दिल लगाने की 'नेक' सलाह देते हैं। ज्ञान और प्रेम के व्यसन जाति और सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित अस्मिता को शिथिल करने वाले व्यसन हैं। वस्तुतः ज्ञान और प्रेम सिर्फ बनारसीदास के नहीं, समूचे भक्ति आंदोलन के व्यसन हैं। और ये व्यसन केवल साधु संत संन्यासियों को नहीं लगे थे; गृहस्थ, व्यापारी और बादशाह भी इन व्यसनों में मुक्तिला थे। यह उस युग का व्यसन था जिसे समाज वैज्ञानिक आजकल 'प्रारम्भिक आधुनिकता' का युग कहते हैं।

कथानायक अपने जीवनकाल में दो बार चमत्कारी साधुओं के द्वारा छला जाता है। दूसरा साधु तो शैव था। इस साधु द्वारा दी गयी शंखोली की चमत्कारिक शक्ति से उसका मोहभंग तब होता है जब वह अकबर की मृत्यु की खबर सुन कर अशांति की आशंका से व्यग्र होकर, सीढ़ी से गिर पड़ता है और उसका सिर फट जाता है, किन्तु शिव जी उसकी कोई सहायता नहीं करते। इसी घटना के बाद धार्मिक बाह्याडम्बर और कर्मकांड से उसका विश्वास उठ जाता है। एक जिज्ञासु और अध्ययनशील व्यक्ति अपने जीवनानुभवों के प्रकाश में धार्मिक मान्यताओं और ज्ञान मीमांसात्मक सूत्रों को परखता है और यदि वे अनुभव और विवेक की कसौटी पर सच्चे सिद्ध नहीं होते तो उन्हें छोड़ भी देता है। कथानायक भी यही करता है।

'अर्द्धकथानक' ही नहीं समूचे भक्तिकालीन साहित्य में एक विशेष प्रकार की 'भारतीय' वैयक्तिकता दिखायी पड़ती है। सामाजिक जीवन के आचार विचार, रीति रिवाज से असंतुष्ट होने पर वैयक्तिक विद्रोही या तो कल्पना की दुनिया में चला जाता है या अपनी मर्जी के मुताबिक एक यूटोपिया रच लेता है। प्रायः सभी महत्वपूर्ण भक्तिकालीन कवियों के यहां किसी न किसी रूप में यूटोपिया मौजूद है। रामचंद्र शुक्ल को सूर साहित्य के प्रसंग में अंग्रेजी के रोमैण्टिक कवि शेली की याद यूं ही नहीं आयी थी। यह बात अलग है कि इस सूझ को वे आगे नहीं बढ़ा सके क्योंकि औपनिवेशिक विद्वानों ने यह पाठ पढ़ा रखा था कि यह अंधकार युग था। यूरोप के लिए यह सदी अंधकार और भयंकर हिंसा की सदी थी। इस सदी में वहां विभिन्न सम्प्रदायों में सहिष्णुता इतनी कम थी और वैचारिक उग्रता इतनी ज्यादा कि उन्होंने एक दूसरे का बड़े पैमाने पर कल्लेआम किया। शैल्डन पोलक (2001) की मानें तो इस दौर में जैसा नरसंहार पश्चिम में हुआ वैसा नरसंहार विश्वयुद्ध से पहले दुनिया के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। जो लोग पश्चिमी ढंग की वैयक्तिकता को ही 'असली' वैयक्तिकता मानने के हिमायती हैं उन्हें इस तथ्य पर भी अफसोस जताना चाहिए कि भारत में रेस्टोरेशन काल जैसा नरसंहार क्यों नहीं हुआ। पश्चिम में धार्मिक और वैचारिक असहिष्णुता का आलम यह था कि ज्ञानोदयी दौर (अट्टारहवीं सदी) के प्रारम्भ तक पश्चिमी बुद्धिजीवी भारत का उदाहरण देते थे कि दुनिया में एक ऐसा देश भी है जहां के लोग वैचारिक या धार्मिक विभिन्नता के कारण एक दूसरे की हत्या नहीं करते। (देखें विल्हेल्म हल्बास, 1990)

वैयक्तिकता — आधुनिकता के विकास के साथ। यह सच है कि पश्चिम दुनिया की दूसरी सभ्यताओं से आगे निकल गया लेकिन इसकी कीमत शेष दुनिया को ही नहीं, पश्चिम को भी चुकानी पड़ी। समूचे विश्व को अपना उपनिवेश बनाने के दौरान व्यापक नरसंहार का सहारा लेने वाली पश्चिमी सभ्यता को भी दो विश्वयुद्धों में बड़े पैमाने पर जानमाल की तबाही झेलनी पड़ी। वैयक्तिकता के

विकास के साथ ज्ञान विज्ञान के विकास और समृद्धि का इतिहास ही नहीं जुड़ा है बल्कि हिंसा, लूटपाट और उपनिवेशवाद का इतिहास भी जुड़ा है। यही कारण है कि स्वयं पश्चिम में आधुनिकता और व्यक्तिवाद की आलोचना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही शुरू हो गयी थी। फ्रेडरिक जेम्सन जैसे तो उत्तर आधुनिकता के आलोचक के रूप में ख्यात हैं, किन्तु स्वायत्त, आत्मपूर्ण वैयक्तिकता की अवधारणा की उत्तर आधुनिक चिन्तकों द्वारा की गयी नुक्ताचीनी से सम्भवतः इसीलिए सहमत हैं। उन्होंने लिखा है कि उत्तर आधुनिकतावाद की सबसे रैडिकल अंतर्दृष्टि यह है कि बुर्जुआ व्यक्ति सिर्फ अतीत की वस्तु नहीं है बल्कि वह एक मिथ है 'सच तो यह है कि वह दार्शनिक और सांस्कृतिक रहस्यात्मकता का परिणाम है जिसने लोगों को यह यकीन दिलाया था कि वे वैयक्तिक कर्ता हैं और उनके पास विलक्षण निजी अस्मिता है।' (1987:115)

भारत में जाति और धर्म से कम महत्वपूर्ण भूमिका सम्प्रदाय की नहीं थी। जिसे आज हम हिन्दू धर्म कहते हैं, वस्तुतः वह इसी प्रकार के सम्प्रदायों का समुच्चय था। व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के अतिरिक्त दूसरे सम्प्रदाय के आचार्यों/गुरुओं/साधुओं के सम्पर्क में आता था। सम्प्रदाय के अंदर और विभिन्न सम्प्रदायों के बीच चिन्तन मनन और वाद विवाद का सिलसिला लगातार चलता रहता था। (अमर्त्यसेन ने अपनी पुस्तक 'आर्गुमेन्टेटिव इंडियन' में इस प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है)। यह ठीक है कि ये सम्प्रदाय जड़ता के भी शिकार हो जाते थे किन्तु यह भी सच है कि इस जड़ता को तोड़ने वाले नये सम्प्रदायों का भी जन्म होता रहता था। असल में सत्रहवीं सदी वैचारिक एवं संवेदनात्मक गहमागहमी की सदी थी। साधु संन्यासी, सूफी फकीर, गृहस्थ और राजा सभी इस गहमागहमी में मुक्तिला थे। अकबर का 'दीने इलाही' हो या बनारसीदास का अध्यात्म, एक नयी राह निकालने के लिए सर्वत्र विचारमंथन चल रहा था।

वस्तुतः विभिन्न सम्प्रदायों की एक साथ सक्रियता और अंतर्बाह्य वाद विवाद के कारण व्यक्ति/कर्ता की चेतना में परिवर्तन आता है और इसी के साथ संसार का अवबोध बदल जाता है। इन विचारधाराओं (विश्वास प्रणालियों) के कारण कर्ता और अस्मिता निर्माण प्रणालियों का लगातार पुनर्गठन होता रहता है। इस पुनर्गठन के दौरान स्वयं को कर्ता के रूप में जानने और अस्मिता निर्माण प्रणालियों को समझने की नयी सम्भावनाओं का उदय होता है। 'अर्द्धकथानक' में कथानायक का चरित्र इस समूची प्रक्रिया के लिए साक्ष्य प्रस्तुत करता है और इस बद्धमूल धारणा का खंडन करता है कि यहां वैयक्तिकता का विकास असम्भव था।

वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद में अंतर करने की जरूरत है। 'भारतीय' वैयक्तिकता गहरे नैतिकबोध मानवमात्र के उत्थान की चेतना से सम्पृक्त थी और इसने साम्प्रदायिक या वैचारिक असहिष्णुता को बढ़ावा नहीं दिया। यही कारण है कि जब यूरोप में विभिन्न ईसाई सम्प्रदाय एक दूसरे का बड़े पैमाने पर कल्लेआम कर रहे थे, यहां हिन्दू, मुसलमानों के बीच भी उस स्तर का संघर्ष कहीं नहीं दिखायी पड़ता। हिन्दू, मुस्लिम सम्बंध के बारे में बनारसीदास का दृष्टिकोण कबीर की तरह असाम्प्रदायिक और मानवीय है। उन्होंने लिखा है :

एक रूप में हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोय ।

मन की दुविधा मान कर, भये एक से दोय ।।

दोऊ भूले भरम में, करे वचन की टेक ।

'राम राम' हिन्दू कहै, तुरुक 'सलामालेक' ।।

यदि धार्मिक सहिष्णुता कायम रखने में सत्रहवीं सदी का भारत सफल रहा और यूरोप बुरी तरह विफल तो इसका श्रेय नये किस्म की वैयक्तिकता और चिन्तनशीलता को दिया जाना चाहिए, जिसका विकास इस दौरान भारत में हो रहा था।

भारतीय परम्परा में सत्य की अवधारणा बहुस्तरीय थी। यह सही है कि परमार्थिक सत्य

सर्वोच्च था किन्तु परमार्थिक सत्य के नीचे सांसारिक सत्य का एक बहुत बड़ा स्पेस था और दोनों का सह अस्तित्व सम्भव था। ईसाइयत में सत्य की बहुस्तरीयता नहीं थी। सांसारिक सत्य के विकास के लिए चर्च के वर्चस्व को चुनौती देना जरूरी था। यही कारण है कि पश्चिम में ज्ञान विज्ञान और साहित्य कला का विकास पुनर्जागरण के बाद ही दिखायी पड़ता है; सांस्थानिक ईसाइयत का युग अंधकारयुग कहलाता है। भारत में चूँकि हिन्दू धर्म का कोई सांस्थानिक केन्द्रीय प्राधिकार नहीं था, और सत्य की अवधारणा बहुस्तरीय थी, इसलिए यहां वैचारिक बहुलता और भिन्नता के लिए पर्याप्त गुंजाइश थी। सेकुलर सोच को सांस्थानिक धर्म के विकल्प के रूप में सामने लाने की मजबूरी भी नहीं थी। इसीलिए भारत में वैयक्तिकता का विकास गहरी आध्यात्मिक और मानवीय संवेदनशीलता से सम्पृक्त दिखायी पड़ता है, जिसमें उग्रता और हिंसा के लिए कोई जगह नहीं है। जिन लोगों के लिए उग्रता, हिंसा और वर्चस्व के बिना वैयक्तिकता की परिकल्पना कर पाना असम्भव है, उन्हें अवश्य सिर्फ पश्चिम में वैयक्तिकता का विकास दिखायी पड़ेगा। जिसे कबीर, अकबर और बनारसीदास में कोई वैयक्तिकता नहीं दिखती, उसे गांधी में भी कोई वैयक्तिकता नहीं दिखेगी। कहने की जरूरत नहीं कि गांधी की वैयक्तिकता की इस पूर्व औपनिवेशिक वैयक्तिकता के बिना कल्पना कर पाना भी असम्भव है। वस्तुतः यह वैकल्पिक वैयक्तिकता थी जिसका औपनिवेशिक वर्चस्व के कारण विकास न हो सका।

सांसारिक सत्य और परमार्थिक सत्य के सह अस्तित्व के कारण भारत में पश्चिम की तरह न तो कोई मूलभूत वैचारिक संकट उत्पन्न हुआ और न ही आधुनिकता ने एक तूफान की तरह परम्परा को अपदस्थ किया। यहां परिवर्तन की गति पश्चिम के मुकाबले धीमी किन्तु सतत है। सम्भवतः इसी कारण यहां उस पैमाने की वैचारिक साम्प्रदायिक उग्रता — हिंसा — भी नहीं है और न कोई ऐसा दौर है जिसे अंधकारयुग कहा जा सके।

बनारसीदास के व्यक्तित्व में प्रेम और ज्ञान, राग और विराग, सांसारिकता और आध्यात्मिकता का विरोधाभासी संयोग दिखायी पड़ता है। इस विरोधाभास को भारतीय सभ्यता की उपर्युक्त विलक्षणता के परिप्रेक्ष्य में ही व्याख्यायित किया जा सकता है। क्योंकि पश्चिमी सभ्यता में स्तरीकृत सत्य की परिकल्पना नहीं है।

जागतिक सत्य और परमार्थिक सत्य की तरह ही काल की अवधारणा भी यहां चक्रीय और रेखीय दोनों हैं। किन्तु पश्चिमी विद्वान जैसे सत्य की दोहरी अवधारणा को नहीं समझ सके वैसे ही काल की द्विस्तरीय अवधारणा की जटिलता को नहीं समझ पाये। रोमिला थापर ने अपने आलेख 'टाइम ऐज ए मेटाफर फार हिस्ट्री' (1996) में इस प्रकरण की विस्तार से चर्चा करते हुए दिखाया है कि ज्ञान विज्ञान, राजकाज और दैनंदिन क्रियाकलापों के लिए काल की रेखीय अवधारणा से काम लिया जाता था। शिलालेखों, प्रशस्तियों में तिथियों का उल्लेख प्राचीन काल से ही मिलने लगता है। आर्यभट्ट जैसे खगोलशास्त्री और अन्य वैज्ञानिकों की उपलब्धियां काल की रेखीय अवधारणा के बिना सम्भव नहीं थीं। काल की चक्रीय अवधारणा में भी प्रत्येक युग की अवधि इतनी अधिक है कि सांसारिक सत्य की तरह काल की रेखीय अवधारणा को बहुत लम्बा स्पेस मिल जाता है। वैसे अब यह कोई छिपी हुई बात नहीं रह गयी है कि आधुनिकता की कई महत्वपूर्ण अवधारणाएं वस्तुतः ईसाइयत में पहले से मौजूद अवधारणाओं का ही सेकुलरीकृत रूप हैं। काल की रेखीय अवधारणा भी ईसाई धर्म में पहले से मौजूद थी। रेखीय अवधारणा के साथ विकसित होने वाली 'आत्म' की अवधारणा की सीमाएं आधुनिकतावाद के दौरान ही समझ में आने लगी थीं। उत्तर आधुनिकता ने इस 'आत्म' की सीमाओं का एहसास और भी तीव्र कर दिया। असल में मनुष्य जीवन सिर्फ नाक की सीध में नहीं चलता। अतीत की स्मृति, वर्तमान का बोध और भविष्य की कल्पना के बीच वह लगातार संचरण करता रहता है। किन्तु काल की रेखीय अवधारणा में आगे पीछे जाने का लचीलापन नहीं है। जीवन जगत् और आत्म की जटिलता को समझने की दृष्टि से, अयप्पापणिक्कर के अनुसार, काल की भारतीय अवधारणा रेखीय अवधारणा

से अधिक सार्थक है। (2003)

इसलिए यह कहना सही नहीं है कि भारत में आत्म और आत्मकथा का विकास असम्भव था क्योंकि यहां काल की रेखीय अवधारणा नहीं थी। ध्यातव्य है कि 'अर्द्धकथानक' का आख्यान रेखीय क्रम में ही आगे बढ़ता है। जैसे परमार्थिक सत्य की अवधारणा से सांसारिक सत्य की अवधारणा का निषेध नहीं होता था, जैसे काल की चक्रीय अवधारणा से काल की रेखीय अवधारणा का विसर्जन नहीं होता था, वैसे ही भाग्य, कर्म की अवधारणा से जीवन जगत को जानने और उद्यमशीलता की प्रवृत्ति का विनाश नहीं होता था। 'अर्द्धकथानक' में बनारसीदास विपत्ति, संकट और असफलता के दौरान पिछले कर्म या पाप की बात जरूर करते हैं लेकिन वे भाग्य के भरोसे बैठने वाले व्यक्ति नहीं हैं। उनमें इतनी आत्म सजगता है कि अपनी कमियों को देख सकें और उन्हें दूर कर सकें। लगता है कि उस दौर में जब जीवन आज की तुलना में ज्यादा असुरक्षित था, चिकित्सा विज्ञान का इतना विकास नहीं हुआ था, भाग्य, कर्म और क्षणभंगुर जीवन की बातें लोगों को निष्क्रिय बनाने के बजाय जीवन में आस्था का संचार करती रही होंगी, दुख सहने की शक्ति देती रही होंगी। मार्क्स ने 1857 के बारे में लिखते हुए बहुत ही मार्के की बात कही है, जिसका इस प्रसंग में उल्लेख उपयुक्त होगा। उन्होंने लिखा है कि जब कोई व्यक्ति नयी भाषा सीखना शुरू करता है तो प्रारम्भ में नयी भाषा की बातों को अपनी भाषा में अनूदित कर समझने की कोशिश करता है। इसी प्रकार हम नये विचारों को प्रायः पुराने मुहावरे में ढाल कर बोधगम्य बनाने की कोशिश करते हैं।

राज्य और राजसत्ता के प्रति बनारसीदास में द्वैत की स्थिति दिखायी पड़ती है। 'अर्द्धकथानक' में तीन ऐसे प्रसंग आते हैं जहां उनका परिवार या समुदाय मुगल अधिकारियों के हाथों प्रताड़ित होता है। वे इसका दुखड़ा तो रोते हैं किन्तु इसके औचित्य को लेकर कोई सवाल नहीं खड़ा करते। सिर्फ यह कह कर चुप साध लेते हैं कि ईश्वर ही बता सकता है कि जो कुछ हुआ वह सही था या गलत था। किन्तु अकबर की मौत की खबर से उन्हें ऐसा सदमा लगता है कि वे गश खाकर गिर पड़ते हैं और उनका सिर फूट जाता है। इस प्रसंग की कई तरह से व्याख्या की जा सकती है। जैसे वे मुगल अधिकारियों से तो पूरी तरह संतुष्ट नहीं हैं फिर भी अकबर की न्यायप्रियता में उनका विश्वास अडिग है। जैसे अकबर की मौत से ज्यादा सत्ता संघर्ष के दौरान होने वाली जानमाल की तबाही की आशंका से उन्हें सदमा लगा।

यह सही है कि बनारसी दास के यहां राजसत्ता के प्रति उदासीनता का रुख दिखायी पड़ता है। लेकिन उस दौर में शायद ही कोई हो जिसने राजसत्ता को अपने चिन्तन का विषय बनाया है। इसका कारण कदाचित् यह है कि हिन्दू सभ्यता में राजसत्ता, समाजसत्ता से अलग नहीं है बल्कि समाजसत्ता का ही विस्तार है। राजा का काम वर्णव्यवस्था की रक्षा करना है, वर्णव्यवस्था उस संविधान की तरह है जिसके अनुरूप राजा को राज्य का शासन करना है। बुनियादी चीज राज्य नहीं, बल्कि वर्णव्यवस्था वाला समाज है। इसीलिए भक्तिकालीन निर्गुण संतों ने वर्णजाति व्यवस्था की तो आलोचना की लेकिन राजसत्ता के प्रति प्रायः उदासीन ही बने रहे।

लेकिन यह मानना कि समूचा व्यापारी साहूकार समुदाय राज्य और राजसत्ता के प्रति पूरी तरह उदासीन बना रहा, गलत होगा। इतिहासकार मुजफ्फर आलम ने उल्लेख किया है कि फिलिप कालकिन्स और एम.एन. पियरसन के अध्ययनों से यह बात साफ हो चली है कि गुजरात और बंगाल में इस समुदाय ने राजनीति में भागीदारी की थी। यह समुदाय पूर्णतः निष्क्रिय नहीं था और अपने हितों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक सत्ता को सहयोग देता था। (1993 : 8-9)। स्वयं बनारसीदास महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाक्रमों के महत्व को समझते हैं और अपनी आत्मकथा में उनका संदर्भ बिन्दु के रूप में उल्लेख करते हैं। इतिहासकार संजय सुब्रह्मण्यम की बात बिल्कुल ठीक है कि "‘अर्द्धकथानक’ में सिर्फ निजी जीवन की बातें नहीं हैं बल्कि यह कृति दार्शनिक अनुचिन्तन और बाह्य घटनाक्रम के बीच झूलती रहती है; बनारसीदास की वैयक्तिकता इसी प्रक्रिया से परिभाषित होती है।" (1998 : 95)

बनारसीदास के आत्मचरित में आधुनिक आत्मकथाओं जैसी गहरी आत्मीयता और पूर्णता नहीं है। वह स्वयं इस बात को जानते हैं। आत्मचरित के आखिर में उन्होंने लिखा है कि यह तो सिर्फ उनके जीवन की स्थूल रूपरेखा है, जिसमें उन्होंने अपनी जिन्दगी के कुछ ही ब्यौरे दिये हैं, जो उन्हें याद रह गये हैं। और ये ब्यौरे भी ज्यादातर उनके बाह्य कार्यों से सम्बंधित हैं, भावनाओं और चिन्तन की आभ्यांतरिक दुनिया तो अछूती ही छूट गयी है। मनुष्य के जीवन में बहुत कुछ इतना सूक्ष्म है कि उसे पकड़ पाना ही मुश्किल है, व्यक्त करना तो और भी कठिन है। सिर्फ एक दिन की अवधि में भी मनुष्य की चेतना में पता नहीं क्या क्या गुजरता है। सर्वज्ञ 'केबलिन' उसे समझ सकते हैं, लेकिन शायद वे भी उसका पूर्णता में वर्णन नहीं कर सकते :

यह बनारसी जी की बात। कही थूल जो हुती विख्यात।।
 और जो सूक्ष्म दसा अनंत। ताकी गति जाने भगवंत।।
 जे जे बातें सुमिरन न भई। तेते बचनरूप परिनई।।
 जे बूझी प्रमाद इह माहि। ते काहू पै कहै न जाहि।।
 अल्प थूल भी कहै न कोय। भाषै जु केबली होय।।
 एक जीव की एक दिन, दसा होहि जेतीक।
 सो कहि न सकै केबली जानै जद्यपि ठीक।।

पिछले वर्ष अपने एक लेख में वसुधा डालमिया ने 'अर्द्धकथानक' को प्रारम्भिक आधुनिकता के दौर में लिखी गयी विलक्षण और अंतर्दृष्टिपूर्ण कृति की संज्ञा दी है। लिखा है कि "बनारसीदास किसी भी बिन्दु पर यह संकेत नहीं देते कि उनके जीवन को संचालित करने वाली शक्ति स्वयं के सिवा और कुछ है। व्यापारी समुदाय तथा वृहत्तर राजनीतिक संदर्भ में कार्य करने के बारे में आत्मसजगता के कारण और ऐतिहासिक समय के बारे में जागरूकता के कारण उनकी कथा प्रारम्भिक आधुनिकता के दौर में लिखी गयी एक विलक्षण स्पष्टता से युक्त और अंतर्दृष्टिपूर्ण कृति बन जाती है।" (2008:51) उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि "राव, सुब्रह्मण्यम और शुलमन की पुस्तक में दक्षिण भारत में साहित्य और इतिहास लेखन के संदर्भ में प्रारम्भिक आधुनिकता की बात जिस रूप में की गयी है उसका 'अर्द्धकथानक' में चित्रात्मक रेखांकन मिलता है। मुझे विशेष रूप से प्रासंगिक लगती है — समय और आत्म के बारे में नये बोध की अवधारणा, पूर्व संदर्भ एवं बोधगम्य कारणों से जरूरी तौर पर और मजबूती से जुड़ी हुई जटिल उत्प्रेरकों और आंतरिक गहनता से जुड़ी हुई अतीत की विलक्षणता की अवधारणा। ये अवधारणाएं एक ऐसे संसार में क्रियाशील हैं जो आदर्शकृत नहीं है और इसके बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।" (2008:58) वसुधा डालमिया की इस टिप्पणी से असहमत होने का कोई कारण नहीं है। यहां सिर्फ यह स्पष्ट करने की जरूरत है कि औपनिवेशिक आधुनिकता और पूर्व औपनिवेशिक आधुनिकता या प्रारम्भिक आधुनिकता में क्या फर्क है। इस फर्क को स्पष्ट करने के लिए वी. नारायण राव का यह उद्धरण पर्याप्त होगा : "औपनिवेशिक आधुनिकता को सम्भवतः सबसे आसानी से इस बात के जरिये व्याख्यायित किया जा सकता है कि वह क्या नहीं है। यह समीपस्थ अतीत का निषेध करती है और अपने को इससे विशिष्ट रूप से भिन्न बताती है। इसके विपरीत पूर्व औपनिवेशिक आधुनिकता अतीत से रेडिकल विच्छेद के रूप में स्वयं को नहीं परिभाषित करती और न ही यह अतीत के महत्व से इन्कार करती है। यह परम्परा की अ विच्छन्नता को बनाये रखती है लेकिन संवेदनाओं में परिवर्तन को रेखांकित करती है।" (2007 : 160-61) स्पष्ट है कि अर्द्धकथानक का महत्व पूर्व औपनिवेशिक आधुनिकता या प्रारम्भिक आधुनिकता के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। वस्तुतः 'अर्द्धकथानक' ही नहीं, इस दौर के समूचे साहित्य में प्रारम्भिक आधुनिकता के तत्वों को चिह्नित करने के लिए यह अवधारणा उपयोगी है। यह जरूर है कि मानक साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त उन कृतियों को भी इस विमर्श के दायरे में लाना पड़ेगा जिन्हें अभी तक साहित्यिक कृति नहीं माना जाता था।

संदर्भ

- Alam, Muzaffar, '**Crisis of Empire in Mughal North India**' (Delhi , O.U.P., 1993).
- Anderson, Linda: **Autobiography**, London, Routledge, 2001.
- Arnold, David and Stuart Blackburn (eds): **Telling lives in India**, New Delhi, Permanent Black, 2004.
- बनारसीदास, अर्द्धकथा सं. माता प्रसाद गुप्त, प्रयाग : प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद, 1943
- Coomarswamy, Ananda. **The Dance of Shiva**, Delhi : Munshiram Manohar, 1982.
- Dalmia, Vasudha. '**Merchant Tales and The Emergence of the Novel in Hindi**,' Economic and Political Weekly, 23 August, 2008, pp. 43-60
- Das Gupta, Arun. '**Situating the Individual in Medieval India**' The Calcutta History Journal, XVI (2) July-December, 1994, pp. 1-27.
- Devy, G.N. **In Another Tongue**, Madras- Macmillan, 1995.
- Halbfass, Wilhelm, '**India and Europe**' (Delhi, Motilal Banarasidas, 1990).
- जैन, रवीन्द्र कुमार, कविवर बनारसीदास : जीवनी एवं कृतित्व, दिल्ली, 1966।
- Jameson Fredric, '**Postmodernism and consumer culture**' in 'Postmodern culture' ed. Hall Forster (London, Pluto Press, 1987).
- Lath, Mukund. **Half a Tale : A Study in the relationship between. Autobiography and History, The Ardha Kathanak**, 2nd ed. Delhi : Rupa & Co., 2005.
- Narayana Rao, Velcheru. '**The Play in Context : A Second Look at Apparas's Kamyasulkam.**' **Girls for Sale** : A play from colonial India, Bloomington , Indiana university press, 2007, 159-189; 224-226.
- Narayana Rao, Velcheru. David Shulman and Sanjay Subrahmanyam, **Texure of Time**, Delhi: Permanent Black, 2006.
- Paniker K. Ayyappa '**Indian narratology**' (New Delhi, Indira Gandhi Centre for the Arts, 2003).
- Parikh, Bikhu. **Colonialism, Tradition and Reform**, rev.ed., Delhi; Sage Publications, 1999.
- Pollock, Sheldon, '**India in Vernacular Millennium : Literary Culture and Polity, 1000-1500**' in Public Sphere and collective Identities', Esnstadt N. Shamuel (Ed.) (London, Transaction Publishers, 2001).
- Sharma, Ramesh Chandra. '**The Ardh Kathanak : A Neglected Source of Mughal History**', Indica Vol. 7 (1970), pp. 49-73; 105-20.
- Sinha, R.C.P. **Indian Autobiography in English**, New Delhi: S. Chand, 1978.
- Snell, Rupert. **Confessions of a 17th century Jain Mendicant: The Ardha Kathanak of Banarasidas** South Asia Research, Vol. 25(1), May 2005, pp. 79-104.
- Smith Sidonie and Julia Watson (eds.) **Reading Autobiography**, Minneapolis:univ. of Minnesota press, 2001.
- Subrahmaniyam, Sanjai, '**Hearing voices : Vignettes of Early Modernity in South Asia, 1400-1750**' in 'Daedlus' 127 No 3 (1998).
- Thapar, Romila, '**Time as a metaphor for history**' (Delhi, O.U.P., 1996).
- Vanina, Eugenia. '**The Ardhakathanak by**